# जैन दृष्टि से साधना मार्ग

**श्री ऋषभदासजी**

आत्मा पर आवरण के कारण शरीर के प्रति आसक्ति आ जाती है और मनुष्य शारीरिक सुखों के लिए प्रयत्न करने लगता है, शारीरिक सुखों के लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाता है। वह भूल जाता है कि सभी जीव समान हैं और दुःख किसीको भी प्रिय नहीं है। आत्मा में अनंत सुख भरे हुए हैं, यह वह आवरणों के कारण भूल जाता है। इसलिए कर्मों के आवरण दूर करना साधना का उद्देश्य है।

सबकी भलाई—श्रेय ही सुख का कारण है। दूसरे को दुःख देकर श्रेय नहीं होता। इससे दुःख ही मिलता है। पर जब आत्मा के आवरण दूर हो जाते हैं तब आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनती है, आत्मचेतना प्रकट होनेपर शारीरिक सुखदुःख का असर नहीं होता।

कर्मों के मुख्य आवरण हट जाने पर भी शरीर को शेष आयु भोगनी पड़ती है। जबतक शरीर रहता है, नाम से पुकारा जाता है और वेदना भी होती है। लेकिन इन आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का आवरण हट जाने से उनका असर नहीं होता। इसी कारण से फिर से बंध नहीं हो सकता। मानव जीवन का ध्येय है सबके प्रति समभाव रखकर सबके श्रेय का प्रयत्न करना, केवल अपना ही नहीं, सबका उदय करने में लग जाना। यह पूर्ण विकास है और इससे एक व्यक्ति सिद्ध हो जाता है। वह व्यक्ति से समष्टि में लीन हो जाता है। वह जो कर्म करता है उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। वह सदा सचेत रहता है इसलिए बंध का कारण नहीं बनता। उसमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का पूरा विकास हो जाता है।

आत्मा पर आवरण डालने वाले कर्मों का ज्ञानियों ने इस प्रकार वर्णन किया है : ज्ञान और दर्शन को ढकने वाले, मोहनीय और अन्तराय। इन कर्मों के आवरण से आत्मस्वरूप को भूलकर मनुष्य अज्ञानी बनता है। सत्य की पहिचान नहीं कर सकता। वह यह भी नहीं जानता कि उसे अपने श्रेय के लिए क्या करना चाहिए, और जान भी लेता है तो वह वैसा आचरण नहीं कर पाता। इसलिए कर्मों के आवरण दूर करना और नये कर्म आने न देना यह साधना है।

मन, वचन और शरीर को बुराई से रोकना साधक के लिए आवश्यक है। मन कभी खाली नहीं रहता, वह किसी न किसी विषय में लगा ही रहता है। साधक दूसरे के अनिष्ट के चिंतन का त्याग करता है। जो उसका अहित करता है, वह उसकी भी भलाई ही चाहता है। वह जानता है कि कोई भी उसका अहित अज्ञानवश ही करता है। अज्ञानी पर तो दया ही करना चाहिए। वह तो अपना अहित करनेवाले को उपकारी मानता है क्योंकि कर्मों के आवरण या बंध के कटने में उसे मदद मिली है। यह समत्व दृष्टि आने पर ही होता है।

यदि मन स्वार्थ या अन्य किसी कारण से दूसरे का अहित सोचता है तो वह उसके निरोध का प्रयत्न करता है। वह जानता है कि बुराई प्रथम मन पर हावी होती है, फिर उससे वैसे बुरे काम होते हैं। इसलिए सावधान होकर मन को बुरे विषयों से मोड़ता है।

विचारों की तरह वह वाणी का भी संयम रखता है। दूसरे का अकल्याण या अश्रेय हो, ऐसी भाषा वह नहीं बोलता। उसकी भाषा सत्य, परिमित, हितकर व मीठी होती है। उसका प्रयत्न रहता है कि उसके बोलने से किसी का अश्रेय न हो, किसी का मन न दुःखे।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार और वाणी की तरह शरीर से भी कोई ऐसी बात नहीं होने देता कि जिससे किसी का अकल्याण या अहित हो। उसकी प्रत्येक क्रिया अत्यंत सावधानीपूर्वक होती है। उसके द्वारा जो भी काम होते हैं उनसे दूसरों का अनिष्ट तो होता ही नहीं, भलाई ही सधती है।

इस तरह वह अपने आपको सत्प्रवृत्ति में लगाता है, पर उसकी किसी भी शुभ क्रिया में आसक्ति नहीं होती। सहज शुभ प्रवृत्ति रहती है। इन शुभ प्रवृत्तियों को जैन धर्म में 'दश धर्म' कहा जाता है।

## क्षमादि दश धर्म

जिनके साथ अच्छे संबंध हों, उनके साथ अच्छा वर्ताव करने में खास अड़चन नहीं आती। पर जब कोई कष्ट दे, अपमान करे, या क्रोध के कारण उपस्थित करे तब भी अपनी वृत्तियों को उत्तेजित न होने दे और आत्मभाव रखे, यह क्षमा है। कोई चाहे जितने चिढाने के कारण पैदा करे तो भी अपने को उत्तेजित न होने दे, यह उत्तम क्षमा है। अपने पर हमने कितना काबू पाया है, इसकी कसौटी क्षमा ही है।

क्षमा धर्म के पालन में अहंकार बाधक बनता है। संसार के झगड़ों में अधिकांश अहंकार के कारण पैदा होते हैं। अपनी बात के लिए हजारों नहीं पर लाखों के प्राण गए और बड़े बड़े युद्ध हुए। इसलिए साधक बाहरी और भीतरी अहंकार को त्याग कर नम्रता धारण करे, मृदुता का व्यवहार करे। मनुष्य अहंकार करे भी तो किस बात का ? देह संसार की शक्ति के सामने अत्यंत तुच्छ है। शक्ति, बुद्धि, विद्या, धन सभी इतने अल्प और क्षणिक हैं कि कोई भी विवेकी पुरुष उनका अहंकार कर नहीं सकता। यही कारण है कि सच्चे ज्ञानी सदा नम्र होते हैं।

किंतु सरलता के अभाव में नम्रता दंभ भी बन सकती है। इसलिए मन, वचन और काया के सभी व्यवहारों में एकता लाने के लिए आर्जव या सरलता आवश्यक है। जैसे विचार हों वैसे कहे और करे, यही साधना में उपयोगी है।

कोई अपने को चाहे जितनी सत्प्रवृत्ति में लगावे पर जबतक सत्प्रवृत्ति में भी आसक्ति रहेगी तबतक साधक विकास नहीं कर सकता। सत्प्रवृत्तियां भी अनासक्ति के अभाव में बोझरूप या बंधन का कारण बन जाती हैं। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है अच्छे काम करो और उन्हें भूल जाओ। साधक अनासक्त, फलाशा-रहित और निर्लेप वृत्तिवाला बने, इसेही शौच कहा गया है।

साधना में तबतक प्रगति नहीं हो सकती जबतक साधना का हेतु स्पष्ट नहीं। साधना के पीछे दृष्टि तो सत्य की खोज है। सत्य बोलने से भी वह अधिक व्यापक है। सत्य में सच बोलना तो विदित है ही पर बोलने में भी वह सत्य, हितकर और इष्ट हो। जब कभी एक का सत्य दूसरे से भिन्न प्रतीत होता हो तो सोचना चाहिए कि यह भेद क्यों है। दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करना चाहिए। समग्र दृष्टिकोण से यदि विचार न किया जाय तो हमारे समझे हुए सत्य के अपूर्ण रहने की संभावना रहती है, इसलिए सत्य का खोजी प्रयत्नशील और उदार होगा। उसमें धीरज होगी। वह शीघ्रता में न तो निर्णय करेगा और न अपना निर्णय दूसरे पर लादने का प्रयत्न ही करेगा। सत्य दूसरों की आजादी में दखल नहीं देता। भिन्न भिन्न विचारधाराओं के बावजूद भी दूसरों के प्रति आत्मीयता और प्रेमभाव रह सकता है। साधक अपने विचारों के प्रति दृढता रखकर भी दूसरों के प्रति उदारता रख सकता है।

पर इस तरह के सत्य का पालन बिना संयम के असंभव है। इसीलिए साधक के लिए संयम आवश्यक माना गया है। अपने किसी भी प्रकार के आचरण से दूसरों को कष्ट न पहुंचे। इंद्रियों और मन के अधीन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन शारीरिक सुखों के पीछे. लगने से आत्मविकास असंभव है। इसीलिए साधक के जीवन में संयम आवश्यक है।

संयम का पालन करनेवाले के जीवन में त्याग का बहुत महत्त्व है। जो अपने जीवन को विकसित करना चाहे उसके लिए संकल्प–व्रत–नियम का महत्त्व है। बुरी बातों का त्याग और अच्छी बातों का संकल्प या दृढ निश्चय बहुत मददगार होता है।

परंतु त्याग बिना संतोष के संभव नहीं। इसलिए अकिंचन वृत्ति को अपनाना आवश्यक है। वह परिग्रह की मर्यादा के बिना आ नहीं सकती। सभी संत कहते हैं कि लोभ सभी गुणों का नाश करनेवाला होता है। विकास अकिंचन वृत्ति के बिना हो नहीं सकता।

परिग्रह मर्यादा या अकिंचन वृत्ति आत्मचर्या में लीन बने बिना संभव नहीं। आत्मा में मगन होने पर आनंद पाने की कला हासिल हो सकती है। तभी बाह्य परिग्रह का त्याग संभव है। क्योंकि बिना आनंद के या सुख के कोई रह नहीं सकता। प्रश्न है यह सुख भौतिक–बाह्य–वस्तुओं से प्राप्त करे या आत्मा से। अनुभवियों का कहना है कि भौतिक सुखों से आत्मिक सुख श्रेष्ठतर और अधिक टिकनेवाले होता है, इसलिए उसे प्राप्त करने का प्रयत्न हो। आत्मरमण ही सच्चा ब्रह्मचर्य है।

जैन साधना में तप का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर को कस कर अपने अधीन बनाना और चित्त को निर्मल बनाना तप का उद्देश्य है। तप का अर्थ शरीरकष्ट नहीं। वही तप साधना में सहायक होता है जिससे शरीर और मन की प्रसन्नता बढ़े। तप के दो भेद हैं: बाह्य और अभ्यंतर। अनशन, ऊनोदरता, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश बाह्य में तथा प्रायश्चित्त, विनय, सेवा परिचर्या, स्वाध्याय, व्युसर्ग और ध्यान अभ्यंतर तप में हैं।

जब साधक अप्रमत्त बनकर निर्मल चित्त बनाकर साधना करता है तो वह अपने साध्य तक पहुंचता है। साधक यथाशक्ति प्रयत्न करे यही जैन दर्शन की अपेक्षा है।

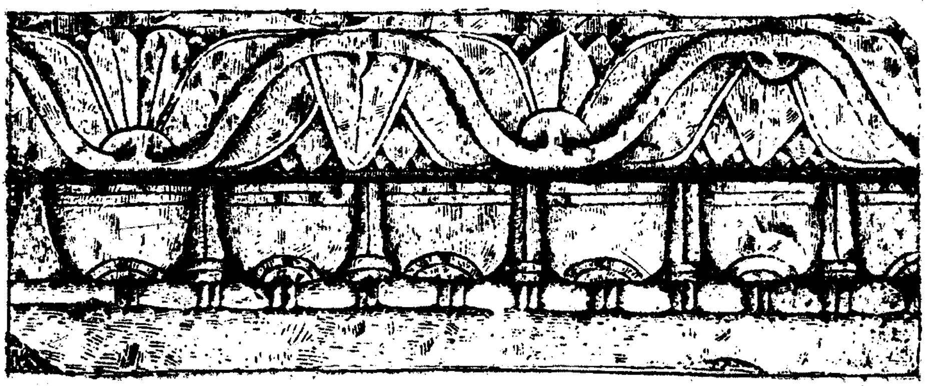

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org